जैन धर्म क्या है?

जैन धर्म एक स्वतंत्र वैज्ञानिक धर्म है जिसके तत्तवादि वैज्ञानिक ढंग पर होते हुए उन महात्माओं द्वारा प्रतिपादित किए गए थे जिन्होंने केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता इन तत्तवादि के मंथन करने से प्राप्त की थी। ऐसे वैज्ञानिक ढंग पर न आज्ञाप्रधान ही की और न पुराण आदि की पहुँच है और यह तो स्पष्ट है कि विज्ञान अथवा वैज्ञानिक ढंग से ही शीघ्र और निर्भ्रांति फल प्राप्त होते है।

जैन धर्म को समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम 'धर्म' का अर्थ समझ लें। हम निशदिन धर्म-धर्म कहा करते हैं परन्तु उसके यथार्थ भाव को समझने में असमर्थ हैं। साधारणतया संसार में चक्कर काटते हुए हम सदृश जीवों को सांसारिक दु:ख और पीड़ाओं से हटा मुक्ति के सच्चे मार्ग में लगाने को धर्म कह सकते है। सर्व प्राणीसमुदाय भी - मनुष्य, पशु, पक्षी आदि-प्रत्येक वस्तु और कार्य में सुख की वांछा करते है। संसार में ऐसा कोई जीव नहीं है जो अगाध जीवन और किसी ने किसी रूप में वास्तविक आनंद का अभिलाषी न हो। धर्म ही एक ऐसा विज्ञान है जो इसकी दवा है। धर्म से ही हमें वह सुख और आनंद मिल सकता है जिसके लिए प्राणी मात्र लालायित हो भटक रहे हैं। परन्तु विस्मय है कि कितने ही प्रचलित धर्म केवल आज्ञाओं और निरर्थक गुप्त समस्याओं पुराणदिक का निरूपण कर ही चुप हो रहे हैं जब कि इनके स्थान में वैज्ञानिक ढंग की आवश्यकता है। यह पहले ही दर्शा दिया है कि विज्ञान (Science) ही एक ऐसा साधन है जिससे शंकाएँ शीघ्र और निर्भ्रांति रूप में दूर कर दी जा सकती हैं और इच्छित पदार्थ की सिद्धि हो सकती है। जैन धर्म में अन्य धर्मों से यही विलक्षणता है कि वह एक शुद्ध, निर्भ्रांति और अपूर्व विज्ञान है और न उसमें निरर्थक रीतियों का ही निरूपण है और न भयोत्पादक पूजा आदि से ही पूर्ण है। जैन धर्म में अंधश्रद्धा का भी अभाव है। वह अपने अनुयायियों को प्रत्येक तत्त्व को न्यायपूर्ण परीक्षा की कसौटी पर कसकर और उनके यथार्थ भाव को समझ कर ही श्रद्धान करने की अनुमति देता है।

प्रारम्भ में जैन धर्म में सर्व-प्राणी समुदाय-तृषित सुख के यथार्थ रूप का निरूपण है। यद्यपि कुछ काल के लिए विषय सुख इंद्रियों को साता सी पहुँचा देते है परंतु यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इन्द्रियजनित विषय सुखों से जीवों की तृषा नहीं बुझती। इन्द्रियजनित सुख पूर्णतया क्षणभंगुर है, अन्य वस्तुओं और देहधारियों के मेल पर निर्भर है। इनकी प्राप्ति दुःख पूर्ण है और अंत भी दुःखदायी। आपस में वैमनस्योत्पादक है और वृद्धावस्था में अथवा इन्द्रिय-शिथिलता पर पूर्ण अशांति के दाता है। जिस व्यक्ति ने अपनी आंतरिक इच्छाओं पर विचार किया होगा तो उसे विदित हुआ होगा कि वह विषयसुख उसे उसके इच्छित पदार्थ अथवा सुख की पूर्ति कर शांति प्राप्त नहीं कराते। इनसे उसकी अशांति उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। यथार्थ में जिस सुख की प्राणीमात्र रक्षा करता है वह सुख ईश्वरीय सुख के सदृश अक्षय, अपरिमित है तथैव आत्मा सुख का उत्पादक है। वह इन्द्रियलोलुप्ता की पूर्ति के सदृश नहीं है। वह अपूर्व आनंद अथवा सुख है।

वह अपूर्व आनंद न क्षणभंगुर ही है और न इन्द्रियजनित सुख के सदृश दुःख अथवा पीड़ा उत्पादक। यह आनंद आत्मा का ही निजी स्वभाव है। यद्यपि अज्ञान अंधकार के कारण वह प्रकट नहीं है। इस वक्तव्य की सत्यता का प्रमाण मनोवाञ्छा की पूर्ति में हमारी आत्मा को सुख का अनुभव स्वतः ही हृदय से बाह्य इन्द्रिय सहायता के बिना ही अनुभवित होने में है। गम्भीर विचार करने से ऐसा सुख पूर्ण स्वतंत्रता में ही प्रदर्शित होता है। वस्तुतः जब कभी भी आत्मा से यह आच्छादित वर्ण अथवा तम का अभाव हो जायेगा तब ही स्वाभाविक आनंद झलक उठेगा। संसारी आत्मा स्वकृत्यों से पूर्ण है अतः ये बाह्य बोझा बढ़ाने वाले कार्यादि उसे भारस्वरूप दुःख पूर्ण प्रतीत होते है। इन पर पदार्थों को क्षय होने पर आत्मा को यथार्थ सुख अर्थात् स्वतंत्रता (मोक्ष) प्राप्त हो जाती है जिसकी कृपा से आत्मा वास्तविक आनंद कर रसास्वादन करती है।

अज्ञान ही वह वस्तु है जिसके वश हो आत्मा स्वाभाविक आनन्द के उपभोग से वंचित रहती है। कठिनता से सहस्त्रो मनुष्यों में कोई एक मिलेगा जो इस स्वाभाविक आनन्द के स्वरूप की झलक से भिज्ञ हो, नहीं तो सब ही मनुष्य अपने इर्दगिर्द की बाह्य वस्तुओं से इस स्वाभिवक आनंद को प्राप्त करना चाहते हैं।

परन्तु यह बाह्य वस्तु समुदाय अपने स्वभाव से ही उसे देने में असमर्थ हैं। यदि मनुष्य अपने आन्तरिक भावों पर ही विचार करे तो भी उसे विदित हो जाये कि जिस समय सच्चा आनन्द अनुभवगोचर होने लगे उसी समय उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाये। आत्मा के स्वाभाविक आनन्द के स्वरूप की अनिभिज्ञता-अज्ञानता ही आत्मा और सच्चे सुख के बीच में रोड़ा हैं। अतः ज्ञान ही सच्चे सुख का मार्ग हैं।

आजकल के स्कूलों और कॉलेजों में जो ज्ञान सिखाया जाता हैं उससे यह सच्चा ज्ञान विशेष जानने योग्य और पूर्ण हैं। इस सच्चे ज्ञान में उन वस्तुओं का स्वभाव और प्रकृति की उन शक्तियों का वर्णन है जिससे आत्मा का स्वाभाविक आनन्द नष्ट हुआ है और पुनः प्राप्त हो सकता है। अन्य चाहे कोई ज्ञान मनुष्य को हितकर भी हो परन्तु सच्चे सुख के अभिलाषी के लिए यही ज्ञान अभीष्ट एवं श्रेष्ठ है।

इस ज्ञान के मुख्य सात ग्राह्य-आवश्यकीय प्रदार्थ है, जिनको जैनागम में तत्व कहते हें। ये इस प्रकार हैं- (1) चेतन प्रदार्थ अर्थात् जीव तत्व, (2) अचेतन अर्थात् अजीव तत्व, (3) आस्रव तत्व अर्थात् आत्मा में पुद्‌गल का आना, (4) बंध तत्व, (5) संवर तत्व, (6) निर्जरा, और (7) मोक्ष तत्व।

इनका विशेष वर्णन निम्न प्रकार से है :-

1. जीव तत्व एक जीवंत पदार्थ है और वास्तव में परमोत्कृष्ट चेतना स्वरूप है। उसकी उत्पत्ति किसी दृष्टि से भी पुद्‌गल से नहीं है। स्वभावतः जीव तत्व सर्वदर्शी और सर्वानन्द पूर्ण है तथा अपरिमित अतुल और अक्षय बल-वीर्य संयुक्त है। जैसे अन्य सर्व पदार्थ अनादि निधन है वैसे ही जीवतत्व है। यह अमूर्तिक है इसलिए इंद्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। परन्तु दूसरी तरफ पूर्णतया निराकार भी नहीं है क्योंकि जितने पदार्थें की सत्ता सिद्ध है उतने समस्त पदार्थों का साकार होना आवश्यक है। जीव सदैव से सत्ता में है। और सदैव से ही पुद्‌गल से सम्बन्धित है। इस कारण अपने स्वाभाविक गुण अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त सुख के उपभोग से वंचित है।

सम्यक् चारित्र के अनुसार वर्तन करने से उन मलरूपी शक्तियों का क्षय हो जाता है जो आत्मा के चार अनन्त चतुष्टय - (1) अनन्तदर्शन (2) अनन्तज्ञान (3) अनन्तसुख (4) अनन्तबल नामक गुण को प्रकट नहीं होने देते हैं।

2. अजीव तत्व चेतना रहित है और पांच प्रकार का है - (1) पुद्गल (2) धर्म (3) अधर्म (4) आकाश (5) काल । जैन धर्म के अनुसार सृष्टि कार्य अथवा विकास इन पंच अजीव पदार्थो के एक या ज्यादा के और जीवों के अभाव में नहीं हो सकता है। आकाश स्थान देने के लिए आवश्यक है तो काल भी उतना ही चलाव-बड़ाव के लिए आवयश्क है, धर्म और अधर्म चलने में व अवकाश ग्रहण करने में क्रमशः सहकारी है। पुद्गल शरीरों की सामग्री का देने वाला है और जीव जीतव्य ज्ञान और सुखोपभोग करने हेतु आवश्यक है। इन छः द्रव्यों का वर्णन जैनाचार्यो ने जैन ग्रन्थों में विशेष रूप में किया है। अतः यहाँ उनका वर्णन करना उचित नहीं है।

3. तीसरा तत्व आस्रव है। आत्मा में कार्मण पुद्गल वर्गणाओं का आश्रिवित होना अथवा आने का नाम आश्रव है। आश्रव के उदय रूप में आत्मा पुद्गल परमाणुओं को स्वतः ही आकर्षित करने लगता है और इसके विविध कषायों वश ये परमाणु आत्मा से मिल जाते हैं जिससे आत्मा के निजगुण ढ़क जाते है और कर्म बंध जाते है। जैन धर्म आत्मा को अनादि से ही इन कर्मों के आश्रव और बंध के कारण दूषित मानता है जिसके कारण जीवात्मा अनादि से ही जन्ममरण धारण कर भ्रमण करता फिर रहा है। यह कर्मबंध आत्मा और पुद्गल के मेल से होते हैं। और इन्हीं से जीव अपने स्वभाविक पूर्णता और स्वतंत्रता से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार एक बंधयुक्त कर्म जंजीरों से जकड़ी हुई आत्मा उस चिड़िया के सदृश है जिसके पंख सी दिए हो, जिसके कारण वह उड़ नहीं सकती है। आत्मा अथवा जीव चिड़िया के तरह वास्तव में स्वतंत्र है। परन्तु पुद्गल के सम्बन्ध के कारण अपने पंख कटे हुए सा समझता है और अपने स्वभाविक सुख व स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता है।

4. बंघ आत्मा में कर्म वर्गणाओं का आश्रवित होकर काल स्थिति के लिए

मिलकर ठहर जाना ही है जैसा ऊपर वर्णन कर चुके है। निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्त करने के पहले इन कितने ही प्रकार के बंधनो को तोड़ना ही पड़ता है।

5. संवर तत्व आश्रव का प्रतिकारक है अर्थात् आत्मा में कर्म मल को एकत्रित होने से रोकता है। प्रत्यक्षतः जब तक आत्मा से कर्म बंध की पुद्‌गल वर्गणाऐं दूर नहीं कर दी जायेगी तब तक मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः संवर अर्थात् हर समय आत्मा में आने वाली कर्म वर्गणाओं को आश्रवित न होने देना मुक्ति प्राप्त करने के मार्ग में प्रथम श्रेणी अथवा पादुका के रूप में है।

6. जब अन्य पुद्‌गल वर्गणाओं का आश्रव होना रुक जाता है तब दूसरी श्रेणी में उन पूर्व संचित कर्म वर्गणाओं को एक-एक कर निकालना रह जाता है। यही दूसरी श्रेणी निर्जरा तत्व है। जब समस्त कर्मबंध तोड़ दिए जाते हैं और आत्मा का पुद्‌गल से किसी प्रकार का संबंध नहीं रहता तब आत्मा अपने स्वभाविक गुण स्वतंत्रता, सुख और केवलज्ञान का अनुभव करती है।

7. सातवां और अंतिम तत्व आत्मा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति है। अर्थात् आत्मा के निज स्वरूप की स्वतंत्रता, मोक्ष अथवा सुख का पा लेना ही है। इस मोक्ष तत्व को आत्मा अपने साथ लगे हुए समस्त पुद्‌गलों के दूर करने पर प्राप्त करती है।

इस प्रकार का इन तत्वों का स्वरूप है। थोड़े ही में जैन धर्म की शिक्षा इस प्रकार है कि पुद्‌गल और मूर्तिक पदार्थों से वेष्टित संसार के जीव चेतन पदार्थ हैं। इनमें पूर्णपने और सर्वदर्शिता की शक्ति विद्यमान् है। उनकी ये शक्तियाँ उन्हें अपने सम्यक् बर्ताव से प्राप्त होती हैं। इन जीवों के अनन्त दर्शन और अनन्त सुख संयुक्त पूर्णपने का अभाव स्वोपार्जित कर्मोदय के कारण हुआ हैं अर्थात् इन जीवों ने स्वतः ही पर पदार्थों को अपनाया है जिसके कारण वे अपने ही कृत्यों वश इन कर्म रूपी पुद्‌गल वर्गणाओं से बांधे गये हैं और अपने यथार्थ स्वरूप को भूल रहे हैं। अतः अब केवल यही आवश्यक है कि जीव अगाड़ी अन्य पुद्‌गल वर्गणाओं का समावेश न होने दे और जो पूर्व संचित बंध स्वरूप सत्ता में है उनको विध्वंश कर दे। जिस समय यह किया जायेगा

उसी समय आत्मा की स्वाभाविक, सर्वदर्शिता और पूर्णपना प्राप्त हो जायेंगे और स्वतंत्रता, अत्तेन्द्रियता और आनन्द का उपभोग होने लगेगा। इस मत में किसी से प्रार्थना अथवा याचना करने की आवश्कता तो है नहीं और ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि कोई भी अन्य द्वार ऐसा नहीं है जो मोक्ष अथवा सुख में से किसी एक को भी दिला सके जिनके लिए जीवात्माऐं मारे मारे फिर रहे हैं। समुचित प्रणाली का ढंग कारण-कार्य के सिद्धान्त पर निर्भर है।

उपर्युक्त वर्णित कारणवश ही जैन धर्म में किसी भी व्यक्ति से सुख अथवा मोक्ष की याचना करने का अथवा तदप्राप्तति हेतु उनकी पूजा करने का निषेध है। ये सुख और मोक्ष आत्मा की निज वस्तुऐं है। इस कारण बाह्य प्रकरणों से प्राप्त नहीं हो सकती। अतः अन्य प्रचलित सैद्धान्तिक मतों के सदृश जैन धर्म परमात्मपद का निरूपण नहीं करता है और उन सर्व पूर्ण सिद्धों की उपासना उसी ढंग से करने का उपदेश देता है जिस ढंग से हम अपने गुरूओं की विनय करते हैं। सर्वोत्तम विद्वान गुरू के लिए परमोत्कृष्ट विनय की आवश्यकता यथेष्ट ही है और सर्वज्ञ तीर्थंकरों से बढ़कर कोई अन्य गुरू हो ही नहीं सकता है। तीर्थंकर त्रिकाल की समस्त वस्तुओं के ज्ञाता हैं और उनका ज्ञान पूर्ण है जिसके फलस्वरूप उन्हें पूर्णपना अर्थात् सिद्धता प्राप्त है। इस प्रकार की शिक्षा जैन धर्म की है। और यह नितान्त ही सीधी सीधी वैज्ञानिक ढंग की है। गुप्त समस्यायों और भेदों का तो नाम तक नहीं है जैसा कि अन्य मतों में पाया जाता है। जैन धर्म के अनुसार निर्वाण का मार्ग सम्यक् चारित्र कर संयुक्त है।

अब यह देखना शेष है कि जैन धर्म का आधुनिक सभ्यता पर क्या प्रभाव पड़ता है? कोई-कोई 'सभ्य' मनुष्य तो आजकल धर्म के नाम से ही घबड़ाते हैं। उनका विश्वास है कि धर्म के पालन के साथ ही साथ विचारी सभ्यता का भी अन्त हो जायेगा परन्तु यह भ्रमपूर्ण विश्वास नितांत प्रमाण रहित ही है और उन्हीं लोगों का है जो आत्माएँ यथार्थ दृश्य से अनिभिज्ञ है और उनके अनुसार आत्मा इस जन्म के उपरांत फिर अगाड़ी जन्म धारण ही नहीं करेगी। सभ्यता को इन्द्रिय लोलुपता मान कर उसका अनर्थ करना न्याय संगत नहीं है। यथार्थ में सभ्यता के अर्थ आत्मशिक्षा से ही सम्बन्ध रखते हैं कारण कि जीवात्माएं यहां भी निरन्तर विकास को प्राप्त होती रहती है और

दूसरे जन्मों में भी। इन्द्रियलोलुपता कितनी भी सुदृष्टि क्यों न हो परन्तु अतत: अनंत आत्मा के गुणों का घातक ही है कारण पहले तो आत्मा का अस्तित्व ज्ञान ही प्रगट नहीं होने देती और फिर इन पापाचारों के कारण उसे नर्क अथवा तिर्यंच गति के दु:खों में ले पटकती है। प्राचीन काल के मनुष्य बुद्धि, विद्या अथवा उस वस्तु विज्ञान से किसी प्रकार भी अनभिज्ञ अथवा अल्पज्ञानी नहीं थे जिस ज्ञान के आधार से इस आधुनिक सभ्यता का निर्माण हुआ है। उनमें विशेषता थी कि उनको विश्वास था कि इन्द्रियलोलुपता दु:खोत्पादक और आत्मगुण को निकृष्ट बनाने वाली है: इसी कारण उन्होनें आवश्यकीय सीमा के बाहर जाकर आत्मगुण को नष्ट करने वाली शारीरिक इन्द्रिय पुष्टि कारक कला अथवा विज्ञान का निरूपण नहीं किया था। मनुष्य और पशु में केवल ज्ञान शक्ति ने बड़ा अंतर डाल दिया है कारण कि ज्ञान की महिमा से मनुष्य तो अपने स्वाभाविक पूर्णपने को प्राप्त कर सकता है परन्तु पशु ज्ञान के अभाव में असमर्थ हैं। अत: पशु गति में तो दशा सुधारने का कोई कारण उपलब्ध नहीं है परन्तु इस मनुष्यावस्था में जीवात्माओं को अपनी दशा सुधार इस जीवन और अन्य जीवन की पीड़ाओ से छुटकारा पाने की उपयुक्त अवस्था प्राप्त है। जो दु:खों से जल्दी छुटकारा दिला सुख का उपभोग कराए वही वास्तविक सभ्यता है और यही न्याय की तीव्रालोचना से भी सिद्ध है न कि वह आधुनिक सभ्यता जो इंन्द्रिय विषय वासनाओं में फंसा हमें पशु सदृश बनाने में कसर नहीं रखती। आधुनिक सभ्यता में ध्यान देने योग्य विषय वर्तमान में जीवन निर्वाह व्यय है। आज कल दिनोदिन यह जीवन-निर्वाह-व्यय अथवा ग्रहस्थी का खर्च बढ़ता जाता है। इस कारण इस सभ्यता की कृपा दृष्टि से हर समय ही -दिन अथवा रात-में परिश्रम कर गृहस्थी का खर्च एकत्रित करने में और उन साधनों के मिलने की चेष्टा में जिनसे मनुष्य अपनी समाज में ''कोई आदमी'' समझा जाता है मनुष्य का उपयोग लगा रहता है। इस प्रकार वर्तमान समय में मनुष्य जीवन में आत्मिक विकास के लिए कोई भी समय उपलब्ध नहीं होता है परन्तु वास्तविक सुख प्राप्ति हेतु अथवा मनुष्य जन्म की सार्थकता के हेतु कर्म बंधनों का क्षय कर अपनी अपूर्व निधि का प्राप्त करना आवश्यक है।

प्राचीन सभ्यता में आधुनिक की नितान्त विपरीतता में मनुष्य को आत्म विकास की ओर पूर्ण ध्यान था। इसी कारण उस समय जीवन निर्वाह इतना सुगम था कि थोड़े

से परिश्रम में ही मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक आनन्द से जीवन व्यतीत करता था और साथ ही साथ शेष समय में परमात्मोपासना में अथवा अपने आत्म विकास में व्यय करता था।

जैन धर्म ने मोक्षाभिलाषी जीवात्माओं के लिए दो तरह के चारित्र का निरूपण किया है। (1) मुनि धर्म (2) गृहस्थ धर्म। मुनि धर्म की विषमता और चारित्र निर्मलता इसी से विदित है कि उसमें उसी भव से मोक्षप्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है और गृहस्थ धर्म उन आत्माओं के लिए है जो मुनि धर्म धारण करने में असमर्थ है।

अतः जैन धर्म का आधुनिक सभ्यता से संबंध होने पर किसी प्रकार की भी क्षति उसके किसी अंग को प्राप्त नहीं हो सकती है। इससे उसको इस अपूर्णता का अभाव हो जायेगा जिसकी कृपा से आधुनिक सभ्य समाज आत्मा को कोई वस्तु नहीं समझती और मनमाने पापाचरण कर इस भव और दूसरे भवों में दुःख उठाती है।

अन्त में प्रिय पाठक। आपसे जैन धर्म को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने का ही निवेदन है और यदि आप आत्मा के वास्तविक उद्देश्य को ध्यान में रखे रहोगे तो जैन धर्म ही उस उद्देश्य पूर्ति हेतु परमोत्कृष्ट मार्ग प्रदर्शित होगा। एवम् भवतु।

ॐ शांति! शांति!

छः शाश्वत द्रव्य

द्रव्य (Substance)

- जीव (Soul)
- अजीव (Non-Soul)
  - आकाश (Space)
  - पुद्गल (Matter)
  - धर्म (Medium of motion)
  - अधर्म (Medium of rest)
  - काल (Time)
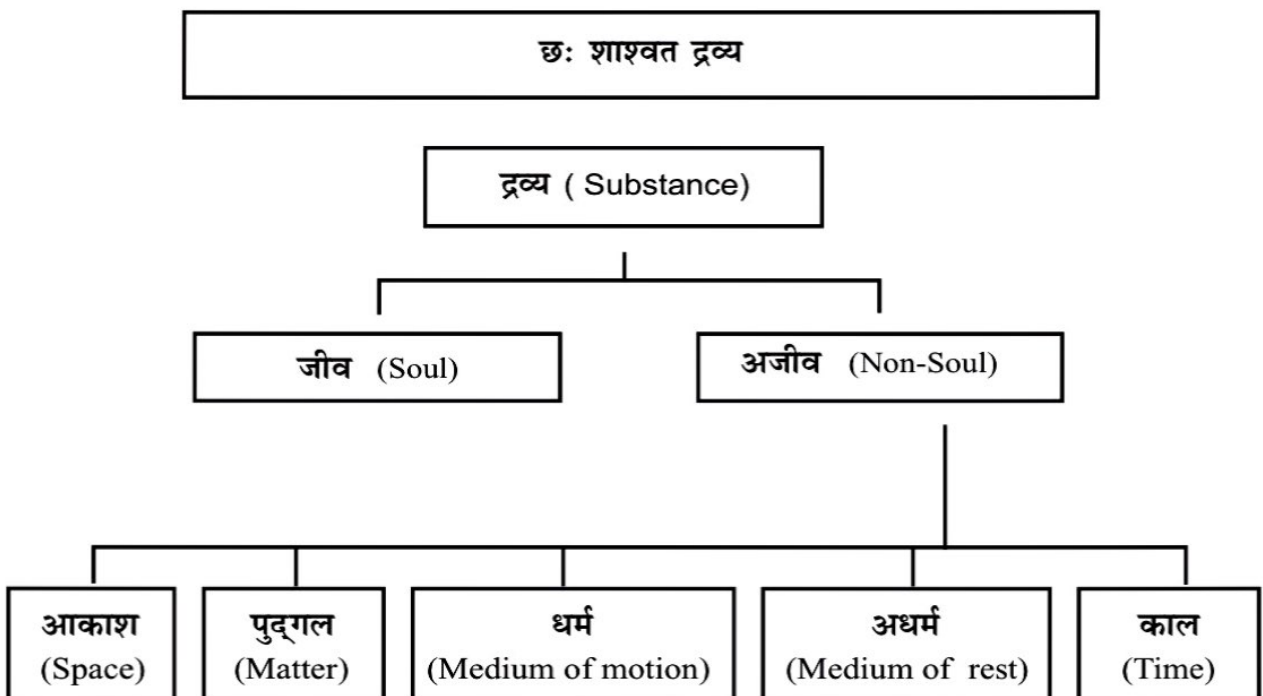
कर्म

जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों के निमित्त से कार्मण वर्गणा रूप जो पुद्गल स्कन्ध जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध को प्राप्त होते है, उन्हे कर्म कहते हैं। कर्म के आठ मूल भेद हैं:-

1. ज्ञानावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को ढ़कता है अर्थात प्रकट नहीं होने देता।

2. दर्शनावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को ढ़कता है।

3. वेदनीय कर्म - जो सुख-दु:ख का वेदन कराता है। इसके दो भेद हैं- साता और असाता।

4. मोहनीय कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

5. आयु कर्म - जिस कर्म के उदय में मनुष्यादि भवों में रूकना होता है।

6. नाम कर्म - जो अच्छे-बुरे, सुंदर-असुंदर, मोटे-पतले, छोटे-बड़े, काले-गौरे, सुडौल-बेड़ौल आदि शरीर की संरचना करता है।

7. गोत्र कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव का उच्च व नीच कुल में जन्म होता है।

8. अंतराय कर्म - जिस कर्म के उदय या निमित्त से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न आता है।

सन्दर्भ :- जिनधर्म प्रवेशिका, धर्मोदय साहित्या प्रकाशन, सागर (म॰प्र॰)
ISBN : 978-81-910547-0-5

---
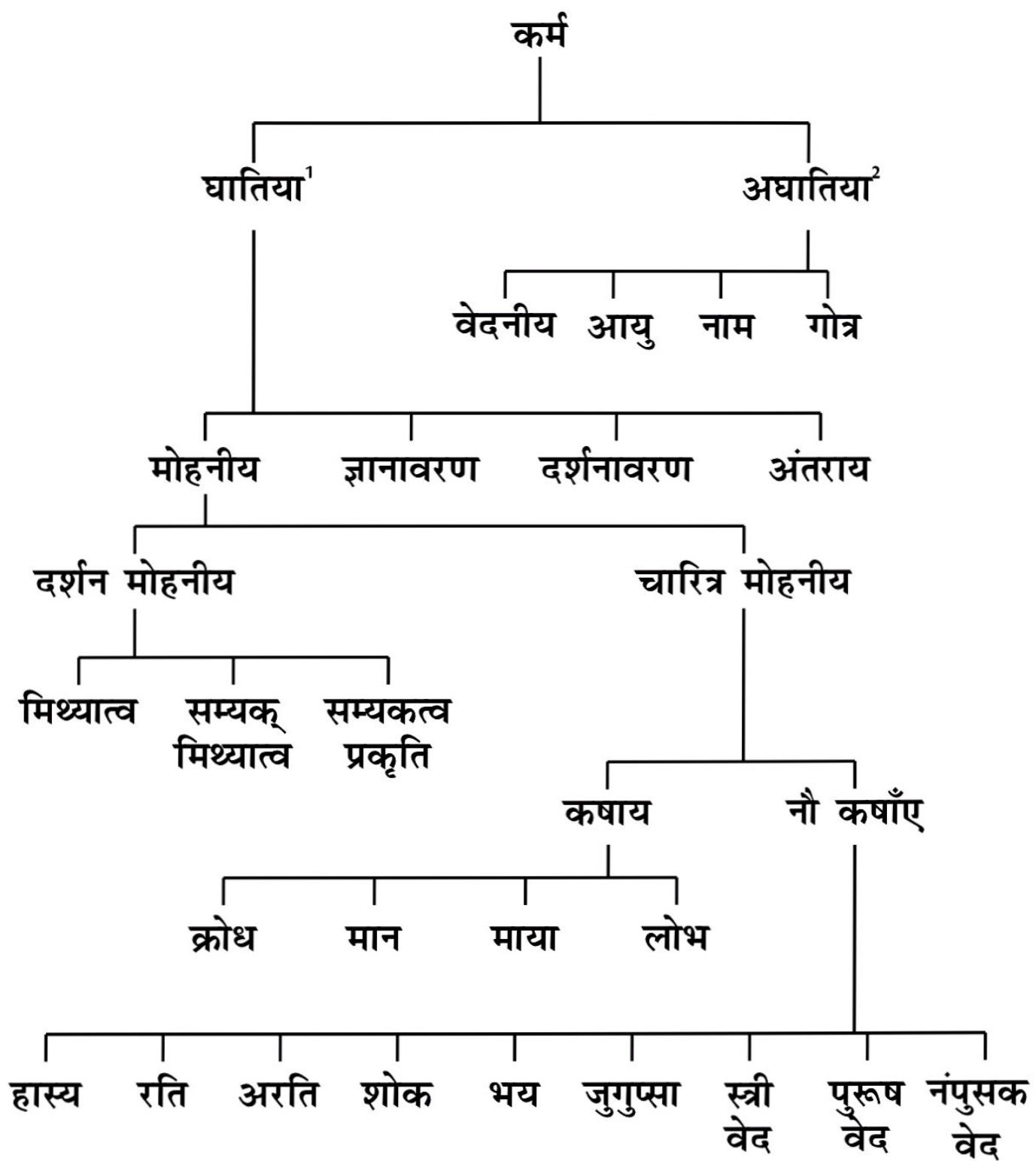
1. जिसके उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य इन अनुजीवी गुणों का घात होता है, उसे घातिया कर्म कहते हैं।
2. जिस कर्म के उदय से जीव के अनुजीवी गुणों का घात नहीं होता उसे अघातिया कर्म कहते है।